श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गच्छों का सामान्य परिचय

डॉ. शिवप्रसाद

शोध अध्येता, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी...

विश्व के सभी धर्म एवं संप्रदाय अपने उद्भव के पश्चात् कालान्तर में अनेक शाखाओं-उपशाखाओं आदि में विभाजित होते रहे हैं। जैनधर्म भी इसका अपवाद नहीं है। यह विभाजन अनेक कारणों से होता रहा है और इनमें सबसे प्रधान कारण रहा है--देश और काल की परिवर्तनशील परिस्थितियाँ एवं परिवेश। इन्हीं के फलस्वरूप परंपरागत प्राचीन विधि-विधानों के स्थान पर नवीन विधि-विधानों और मान्यताओं को प्रश्रय देने से मूल परंपरा में विभेद उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी यह मतभेद वैयक्तिक अहं की पुष्टि और नेतृत्व के प्रश्न को लेकर भी होता है, फलतः एक नई शाखा अस्तित्व में आ जाती है। पुनः इन्हीं कारणों से उसमें भी भेद होता है और नई-नई उपशाखाओं का उदय होता रहता है।

निर्ग्रन्थ-श्रमण-संघ में भगवान महावीर के समय में ही गोशालक[१] एवं जामालि[२] ने संघभेद के प्रयास किए, परंतु गोशालक आजीवक संघ में सम्मिलित हो गया और जामालि की शिष्य-परंपरा आगे नहीं चल सकी।

वीरनिर्वाण के बाद की शताब्दियों में निर्ग्रन्थ-श्रमण-संघ विभिन्न गण, शाखा, कुल और अन्वयों में विभक्त होता गया। कल्पसूत्र[३] और नन्दीसूत्र[४] की स्थविरावलियों में वीरनिर्वाण संवत् ९८० अर्थात् विक्रम संवत् की ५वीं-६ठी शताब्दी तक उत्तर भारत की जैन-परंपरा में कौन-कौन से जैन आचार्यों से कौन-कौन से गण, कुल और शाखाओं का जन्म हुआ, इसका सुविस्तृत विवरण संकलित है। ये सभी गण कुल और शाखाएँ गुरु-परंपरा विशेष से ही संबद्ध रही हैं। इनके धार्मिक विधि-विधानों में किसी प्रकार का मतभेद था या नहीं, यदि मतभेद था तो किस प्रकार का था? इन बातों की जानकारी हेतु हमारे पास कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

निर्ग्रन्थ-श्रमण-संघ के जो श्रमण दक्षिण में चले गए थे, वे भी कालान्तर में गणों एवं अन्वयों में विभाजित हुए। यह परंपरा दिगंबर सम्प्रदाय के रूप में जानी गई।

उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में लगभग दूसरी शती में वस्त्र के प्रश्न को लेकर संघ-भेद हुआ और एक नवीन परंपरा का उद्भव हुआ जो आगे चलकर बोटिक या यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई।[५] पीछे से जो संघभेद हुए उनके मूल में सैद्धान्तिक विधि-विधान संबंधी भेद अवश्य विद्यमान रहे, किन्तु यहाँ इन सबकी चर्चा न करते हुए मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय में समय-समय पर उत्पन्न एवं विकसित हुए विभिन्न गच्छों की चर्चा प्रस्तुत की गई है।

उत्तर और पश्चिम भारत का श्वेताम्बर संघ प्रारंभ में तो वारणगण, मानवगण, उत्तरवल्लिसहगण आदि अनेक गणों और उनकी कुल शाखाओं में विभक्त था, किन्तु कालान्तर में कोटिक गण को छोड़कर शेष सभी कुल और शाखाएँ समाप्त हो गईं। आज के श्वेताम्बर मुनिजन स्वयं को इसी कोटिकगण से संबद्ध मानते हैं। इस गण से भी अनेक शाखाएँ अस्तित्व में आईं। उनमें उच्चनागरी, विद्याधरी, वज्री, माध्यमिका, नागिल, पद्मा, जयंति आदि शाखाएँ प्रमुख रूप से प्रचलित रहीं।[६] इन्हीं से आगे चलकर नागेन्द्र, निवृत्ति, चन्द्र और विद्याधर ये चार कुल अस्तित्व में आए।[७] पूर्व मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों का इन्हीं से प्रादुर्भाव हुआ।

ईसवी सन् की छठी-सातवीं शताब्दी से ही श्वेताम्बर श्रमण परंपरा को पश्चिमी भारत (गुजरात और राजस्थान) में राजाश्रय प्राप्त होने से इसका विशेष प्रचार-प्रसार हुआ, फलस्वरूप वहाँ अनेक नए-नए जिनालयों का निर्माण होने लगा। जैन-मुनि भी अब वनों को छोड़कर जिनालयों के साथ संलग्न भवनों (चैत्यालयों) में निवास करने लगे। स्थिर वास एवं जिनालयों का स्वामित्व प्राप्त होने के फलस्वरूप इन श्रमणों में अन्य दोषों के साथ-साथ परस्पर विद्वेष एवं अहंभाव का भी अंकुरण हुआ। इनमें अपने-अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करने की होड़ सी लगी हुई थी। इन्हीं परिस्थितियों में श्वेताम्बर श्रमणसंघ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न नगरों, जातियों, घटनाविशेष तथा आचार्यविशेष के आधार पर विभाजित होने लगा। विभाजन की यह प्रक्रिया दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में तेजी से प्रारंभ हुई, जिसका क्रम आगे भी जारी रहा।

श्वेताम्बर श्रमणों का एक ऐसा भी वर्ग था जो श्रमणावस्था में सुविधावाद के पनपने से उत्पन्न शिथिलाचार का कट्टर विरोधी था। आठवीं शताब्दी में हुए आचार्य हरिभद्र ने अपने समय के चैत्यवासी श्रमणों के शिथिलाचार का अपने ग्रंथ संबोधप्रकरण[८] में विस्तृत वर्णन किया है और इनके विरुद्ध अपनी आवाज उठाई है। चैत्यवासियों पर इस विरोध का प्रतिकूल असर पड़ा और उन्होंने सुविहितमार्गीय श्रमणों का तरह-तरह से विरोध करना प्रारंभ किया। गुर्जर प्रदेश में तो उन्होंने चावड़ावंशीय शासक वनराज चावड़ा से राजाज्ञा जारी करा सुविहितमार्गियों का प्रवेश ही निषिद्ध करा दिया। फिर भी सुविहितमार्गीय श्रमण शिथिलाचारी श्रमणों के आगे नहीं झुके और उन्होंने चैत्यवास का विरोध जारी रखा। अंततः चौलुक्य नरेश दुर्लभराज (वि.सं. १०६६-१०८२) की राजसभा में चंद्रकुलीन वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर गुर्जर भूमि में सुविहितमार्गियों के विहार और प्रवास को निष्कंटक बना दिया।[९]

कालदोष से सुविहितमार्गीय श्रमण भी परस्पर मतभेद के शिकार होकर समय-समय पर बिखरते रहे, फलस्वरूप नए नए गच्छ (समुदाय) अस्तित्व में आते रहे। जैसे चंद्रकुल की एक शाखा वडगच्छ से पूर्णिमागच्छ सार्धपूर्णिमागच्छ, सत्यपुरीयशाखा आदि अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ अस्तित्व में आईं। इसी प्रकार खतरगच्छ से भी कई उपशाखाओं का उदय हुआ।

जैसा कि लेख के प्रारंभ में कहा जा चुका है एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने की प्रवृत्ति से मुनियों एवं श्रावकों के मध्य स्थायी संपर्क बना, फलस्वरूप उनकी प्रेरणा से नए-नए जिनालयों एवं वसतियों का द्रुतगति से नामकरण होने लगा। स्थानीयकरण की इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्थानों के नाम पर ही कुछ गच्छों का भी नामकरण होने लगा, यथा-कोरटा नामक स्थान से कोरंटगच्छ, नाणा नामक स्थान से नाणकीयगच्छ, ब्रह्माण (आधुनिक वरमाण) नामक स्थान से ब्रह्माणगच्छ, संडेर (वर्तमान संडेराव) नामक स्थान से संडेरगच्छ, हरसोर नामक स्थान से हर्षपुरीयगच्छ, पल्ली (वर्तमान पाली) नामक स्थान से पल्लीवालगच्छ आदि अस्तित्व में आए। यद्यपि स्थानाविशेष के आधार पर ही इन गच्छों का नामकरण हुआ था, किन्तु सम्पूर्ण पश्चिमी भारत के प्रमुख जैन तीर्थों एवं नगरों में इन गच्छों के अनुयायी श्रमण एवं श्रावक विद्यमान थे। यह बात सम्पूर्ण पश्चिमी भारत के विभिन्न स्थानों में इनके आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होती है।

कुछ गच्छ तो घटनाविशेष के कारण ही अस्तित्व में आए। जैसे चंद्रकुल के आचार्य धनेश्वरसूरि (वादमहार्णव के रचनाकार अभयदेवसूरि के शिष्य) साधुजीवन के पूर्व कर्दम नामक राजा थे, इसी आधार पर उनके शिष्य राजगच्छीय कहलाए।

इसी प्रकार आचार्य उद्योतनसूरि ने आबू के समीप स्थित टेली नामक ग्राम में वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि आदि ८ मुनियों को एक साथ आचार्य पद प्रदान किया। वटवृक्ष के आधारपर इन मुनिजनों का शिष्य परिवार वटगच्छीय कहलाया। वटवृक्ष के समान ही इस गच्छ की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ अस्तित्व में आयीं, अतः इसका एक नाम बृहद्गच्छ भी पड़ गया। इसी प्रकार खरतरगच्छ, आगमिकगच्छ, पूर्णिमागच्छ, सार्धपूर्णिमागच्छ, अंचलगच्छ, पिप्पलगच्छ आदि भी घटनाविशेष से ही अस्तित्व में आए।

चाहमानरेश अर्णोराज (ई. सन् ११३९-११५३) की राजसभा में दिगम्बर आचार्य कुलचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले आचार्य धर्मघोषसूरि राजगच्छीय आचार्य शीलभद्रसूरि के शिष्य थे। चूँकि ये अपने जीवनकाल में यथेष्ट सिद्धि प्राप्त कर चुके थे, अतः इनकी मृत्यु के पश्चात् इनकी शिष्य-संतति धर्मघोषगच्छीय कहलायी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कारणों से श्वेताम्बर श्रमणसंघ का विभाजन होता रहा और नए-नए गच्छ अस्तित्व में आते रहे। इन गच्छों का इतिहास जैनधर्म के इतिहास का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अध्याय है, परन्तु इस ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान बहुत कम ही है। आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व महान् साहित्यसेवी स्व.श्री अगरचंद जी नाहटा ने यतीन्द्रसूरि-अभिनन्दनग्रन्थ[१०] में 'जैन-श्रमणों के इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश' नामक लेख प्रकाशित किया था और लेख के प्रारंभ में ही विद्वानों से यह अपेक्षा की थी कि वे इस कार्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए आगे आएँ। स्व. नाहटा जी के उक्त कथन को आदेश मानते हुए प्रो. एम.ए. ढाँकी और प्रो. सागरमल जैन की प्रेरणा और सहयोग से मैंने श्वेताम्बर श्रमणों के गच्छों के इतिहास के लेखन का कार्य प्रारंभ किया है। यद्यपि मैंने साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर विभिन्न गच्छों का इतिहास लिखने का प्रयास किया है, किन्तु प्रस्तुत लेख में गच्छों का मात्र परिचयात्मक विवरण आवश्यक होने से नाहटा जी के उक्त लेख का अनुसरण करते हुए गच्छों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अंचलगच्छ अपरनाम विधिपक्ष वि.सं. ११५९ या ११६९ में उपाध्याय विजयचन्द्र (बाद में आर्यरक्षितसूरि) द्वारा विधिपक्ष का पालन करने के कारण उनकी शिष्य-संतति विधिपक्षीय कहलायी।[११] प्रचलित मान्यता के अनुसार इस गच्छ के अनुयायी श्रावकों द्वारा मुँहपत्ती के स्थान पर वस्त्र के छोर (अंचल) से वंदन करने के कारण अंचलगच्छ नाम प्रचलित हुआ। इस गच्छ में अनेक विद्वान् आचार्य और मुनिजन हुए हैं, परन्तु उनमें से कुछ आचार्यों की कृतियाँ आज उपलब्ध होती हैं। इस गच्छ से संबद्ध बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं।[१२] इनमें प्राचीनतम लेख वि.सं. १२०६ का है। अपने उदय से लेकर आज तक इस गच्छ की अविच्छिन्न परंपरा विद्यमान है।

आगमिकगच्छ[१३] पूर्णिमापक्षीय शीलगुणसूरि और उनके शिष्य देवभद्रसूरि द्वारा जीवदयाणं तक का शक्रस्तव, ६७ अक्षरों का परमेष्ठीमन्त्र और तीनस्तुति से देववन्दन आदि बातों में आगमों का समर्थन करने के कारण वि.सं. १२१४ या वि.सं. १२५० में आगमिकगच्छ या त्रिस्तुतिकमत की उत्पत्ति हुई। इस गच्छ में यशोभद्रसूरि, सर्वाणंदसूरि, विजयसिंहसूरि, अमरसिंहसूरि, हेमरत्नसूरि, अमररत्नसूरि, सोमप्रभसूरि, आनन्दप्रभसूरि आदि कई प्रभावक आचार्य हुए जिन्होंने साहित्यसेवा और धार्मिक क्रियाकलापों से श्वेताम्बर श्रमणसंघ को जीवन्त बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आगमिकगच्छ से संबद्ध विपुल परिणाम में आज साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के अंतर्गत इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा लिखे गए ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ तथा कुछ पट्टावलियाँ आदि हैं। इस गच्छ से संबद्ध लगभग २०० प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं, जो वि.सं. १४२० से लेकर वि.सं. १६८३ तक के हैं। उपलब्ध साक्ष्यों से इस गच्छ की दो शाखाओं-धंधूकीया और विलाबंडीया का पता चलता है।

उपकेशगच्छ[१४] पूर्वमध्यकालीन और मध्यकालीन श्वेताम्बर परंपरा में उपकेशगच्छ का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ अन्य सभी गच्छ भगवान महावीर से अपनी परंपरा जोड़ते हैं, वहीं उपकेशगच्छ अपना संबंध भगवान पार्श्वनाथ से जोड़ता है। अनुश्रुति के अनुसार इस गच्छ का उत्पत्तिस्थल उपकेशपुर (वर्तमान ओसिया, राजस्थान) माना जाता है। परंपरानुसार इस गच्छ के आदिम आचार्य रत्नप्रभसूरि ने वीर संवत् ७० में ओसवालगच्छ की स्थापना की, परन्तु किसी भी प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्य से इस बात की पुष्टि नहीं होती। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ओसवालों की स्थापना और इस गच्छ की उत्पत्ति का समय ई. सन् की आठवीं शती के पूर्व नहीं माना जा सकता।

उपकेशगच्छ में कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि और सिद्धसूरि इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की प्रायः पुनरावृत्ति होती रही है, जिससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के अनुयायी श्रमण चैत्यवासी रहे होंगे। इस गच्छ में कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं, जिन्होंने साहित्योपासना के साथ-साथ नवीन जिनालयों के निर्माण, प्राचीन जिनालयों के जीर्णोद्धार तथा जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना द्वारा पश्चिम भारत में श्वेताम्बर-श्रमण-परंपरा को जीवंत बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्यान्य गच्छों की भाँति उपकेशगच्छ से भी कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ। जैसे वि.सं. १२६६/ई. सन् १२१० में द्विवंदनीक शाखा, वि.सं. १३०८/ई. सन् १२५२ में खरतपा शाखा तथा वि.सं. १४९८/ई. सन् १४४२ में खादिरीशाखा अस्तित्व में आई। इसके अतिरिक्त इस गच्छ की दो अन्य शाखाओं-ककुदाचार्यसंतानीय और सिद्धाचार्यसंतानीय का भी पता चला है, किन्तु इनके उत्पत्तिकाल के संबंध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

उपकेशगच्छ के इतिहास से संबद्ध पर्याप्त संख्या में इस गच्छ के मुनिजनों की कृतियों की प्रशस्ति, मुनिजनों के अध्ययनार्थ या उनकी प्रेरणा से प्रतिलिपि कराई गई प्राचीन ग्रन्थों की दाताप्रशस्तियाँ तथा दो प्रबंध (उपकेशगच्छप्रबंध और नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबंध - रचनाकाल वि.सं. १३९३/ई. सन्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३३६) और उपकेशगच्छ की कुछ पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं।

इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित बड़ी संख्या में जिनप्रतिमाएँ प्राप्त होती है, जिनमें से अधिकांश लेखयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से निर्मित सर्वतोभद्रयंत्र, पंचकल्याणकपट्ट, तीर्थंकरों के गणधरों की चरणपादुका आदि पर भी लेख उत्कीर्ण हैं। ये सब लेख वि.सं. १०११ से वि.सं. १९१८ तक के हैं। उपकेशगच्छ के इतिहास के लेखन में उक्त साक्ष्यों का विशिष्ट महत्त्व है।

उपकेशगच्छीय साक्ष्यों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वि.सं. की १०वीं शताब्दी से लेकर वि.सं. की १६ वीं शताब्दी तक इस गच्छ के मुनिजनों का समाज पर विशेष प्रभाव रहा, किन्तु इसके पश्चात् इसमें न्यूनता आने लगी, फिर भी २०वीं शती के प्रारंभ तक निर्विवादरूप से इस गच्छ का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा।[१५]

काशहृद-गच्छ अर्बुदगिरी की तलहटी में स्थित काशहृद (वर्तमान कासीन्द्रा या कायन्द्रा) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। जालिहरगच्छ के देवप्रभसूरि द्वारा रचित पद्मप्रभचरित (रचनाकाल वि.सं. १२५४/ई सन् ११९८) की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि काशहृद और जालिहर ये दोनों विद्याधरगच्छ की शाखाएँ हैं।[१६] यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस गच्छ के आदिम आचार्य कौन थे, इस बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। प्रश्नशतक और ज्योतिषचतुर्विंशतिका के रचनाकार नरचन्द्र उपाध्याय इसी गच्छ के थे। प्रश्नशतक का रचनाकाल वि.सं. १३२४/ई. सन् १२६८ माना जाता है। विक्रमचरित (रचनाकाल वि.सं. १४७१/ई. सन् १४१५ के आसपास) के रचनाकार उपाध्याय देवमूर्ति इसी गच्छ के थे।[१७] इस गच्छ से संबद्ध कुछ प्रतिमालेख भी प्राप्त होते हैं जो वि.सं. १२२२ से वि.सं. १४१६ तक के हैं।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विक्रम संवत् की १३ वीं शती से १५ वीं शती के अन्त तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस गच्छ से संबद्ध साक्ष्यों की विरलता को देखते हुए यह माना जा सकता है कि अन्य गच्छों की अपेक्षा इस गच्छ के अनुयायी श्रावकों और श्रमणों की संख्या अल्प थी। १६वीं शती से इस गच्छ से संबद्ध साक्ष्यों के नितांत अभाव से यह कहा जा सकता है कि इस गच्छ के अनुयायी मुनिजन और श्रावक किसी अन्य बड़े गच्छ में सम्मिलित हो गए होंगे।

कृष्णर्षिगच्छ[१८] प्राक्मध्ययुगीन और मध्ययुगीन श्वेताम्बर आम्नाय के गच्छों में कृष्णर्षिगच्छ भी एक है। आचार्य वटेश्वर क्षमाश्रमण के प्रशिष्य और यक्षमहत्तर के शिष्य कृष्णमुनि की शिष्य-संतति अपने गुरु के नाम पर कृष्णर्षिगच्छीय कहलायी। धर्मोपदेशमाला-विवरण (रचनाकाल वि.सं. ९१५/ई. सन् ८५९) के रचयिता जयसिंहसूरि, प्रभावक-शिरोमणि प्रसन्नचंद्रसूरि, निस्पृह-शिरोमणि महेन्द्रसूरि, कुमारपालचरित (वि.सं. १४२२/ ई. सन् १३६८) के रचनाकार जयसिंहसूरि, हम्मीर महाकाव्य (रचनाकाल वि.सं. १४४४/ई. सन् १३८६) और रम्भामञ्जरीनाटिका के कर्ता नयचन्द्रसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ में जयसिंहसूरि, प्रसन्नचन्द्रसूरि, नयचन्द्रसूरि इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की पुनरावृत्ति मिलती है, जिससे अनुमान होता है कि यह चैत्यवासी गच्छ था। इस गच्छ से संबद्ध पर्याप्त संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य भी प्राप्त हुए हैं जो वि.सं. १२८७ से वि.सं. १६१६ तक के हैं।

अभिलेखीय साक्ष्यों से इस गच्छ की कृष्णर्षितपाशाखा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस शाखा के वि.सं. १४५० से १४७३ तक के लेखों में पुण्यप्रभसूरि, वि.सं. १४८३-१४८७ के लेखों में शिष्य जयसिंहसूरि तथा वि.सं. १५०३-१५०८ के लेखों में जयसिंहसूरि के प्रथम पट्टधर जयशेखरसूरि तथा वि.सं. १५१० के एक लेख में उनके द्वितीय पट्टधर कमलचन्द्रसूरि का प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु इस शाखा के प्रवर्तक कौन थे, यह शाखा कब अस्तित्व में आई, इस संबंध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

वि.सं. की १७वीं शती के पश्चात् कृष्णर्षिगच्छ से संबद्ध साक्ष्यों का अभाव है। इससे प्रतीत होता है कि इस समय तक इस गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो चुका था।

कोरंटगच्छ[१९] आबू के निकट कोरटा (प्राचीन कोरंट) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। उपकेशगच्छ की एक शाखा के रूप में इस गच्छ की मान्यता है। इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को कक्कसूरि, सर्वदेवसूरि और नन्नसूरि ये तीन नाम पुनः प्राप्त होते रहे। इस गच्छ का सर्वप्रथम उल्लेख वि.सं. १२०१ के एक प्रतिमालेख में और अंतिम उल्लेख वि.सं. १६१९ में प्रतिलिपि की गई राजप्रश्नीय सूत्र की दाताप्रशस्ति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होता है। इस गच्छ से संबद्ध मात्र कुछ दाताप्रशस्ति तथा बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं। ये लेख वि.सं. १६१२ तक के हैं। लगभग ४०० वर्षों के अपने अस्तित्वकाल में इस गच्छ के अनुयायी श्रमण शास्त्रों के पठन-पाठन की अपेक्षा जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा में अधिक सक्रिय रहे।

खंडिलगच्छ[२०] इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा भावडारगच्छ, कालिकाचार्यसंतानीय, भावडगच्छ, भावदेवाचार्यगच्छ, खंडिल्लगच्छ आदि। प्रभावकचरित में चन्द्रकुल की एक शाखा के रूप में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। इस गच्छ में पट्टधर आचार्यों को भावदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, वीरसूरि और जिनदेवसूरि ये चार नाम पुनः प्राप्त होते रहे। पार्श्वनाथचरित (रचनाकाल वि.सं. १४१२/ई. सन् १३५६) के रचनाकार भावदेवसूरि इसी गच्छ के थे। इसकी प्रशस्ति के अंतर्गत उन्होंने अपनी गुरु-परंपरा दी है, जो इस प्रकार है--

भावदेवसूरि
|
विजयसिंहसूरि
|
वीरसूरि
|
जिनदेवसूरि
|
भावदेवसूरि
|
विजयदेवसूरि
|
वीरसूरि
|
जिनदेवसूरि
|

| |
यशोभद्रसूरि भावदेवसूरि
(वि.सं. १४१२/ई. सन् १३५६ में पार्श्वनाथचरित के रचनाकार)

कालकाचार्यकथा, यतिदिनचर्या, अलंकारसार, भक्तामरटीका आदि के कर्ता भावदेवसूरि को ब्राउन ने पार्श्वनाथचरित के कर्ता उपरोक्त भावदेवसूरि से अभिन्न माना है।

इस गच्छ से संबद्ध अनेक प्रतिमालेख मिले हैं जो वि.सं. ११९६ से वि.सं. १६६४ तक के हैं। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि वि.सं. की १२वीं शती में यह गच्छ अस्तित्व में आया और वि.सं. की १७वीं शती के अंतिम चरण तक विद्यमान रहा। इसके पश्चात् इस गच्छ का कोई उल्लेख न मिलने से यह प्रतीत होता है कि इस गच्छ के अनुयायी अन्य किन्हीं गच्छों में सम्मिलित हो गए होंगे।

खरतरगच्छ चन्द्रकुल के आचार्य वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वररसूरि ने चौलुक्यनरेश दुर्लभराज की राजसभा में शास्त्रार्थ में चैत्यवासियों को परास्त किया, जिससे प्रसन्न होकर राजा द्वारा उन्हें खरतर का विरुद् प्राप्त हुआ। इस घटना से गुर्जरभूमि में सुंविहितमार्गीय श्रमणों का विहार प्रारंभ हो गया। जिनेश्वरसूरि की शिष्य-संतति खरतरगच्छीय कहलाई। इस गच्छ में अनेक प्रभावशाली और प्रभावक आचार्य हुए और आज भी हैं। इस गच्छ के आचार्यों ने साहित्य की प्रत्येक विधा को अपनी लेखनी द्वारा समृद्ध किया, साथ ही जिनालयों के निर्माण, प्राचीन जिनालयों के पुनर्निर्माण एवं जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में भी सक्रिय रूप से भाग लिया।[२१]

युगप्रधानाचार्यगुर्वावली[२२] में इस गच्छ के ११वीं शती से १४वीं शती के अंत तक के आचार्यों का जीवनचरित्र दिया गया है जो न केवल इस गच्छ के अपितु भारतवर्ष के तत्कालीन राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इस गच्छ से संबद्ध अनेक विज्ञप्तिपत्र, पट्टावलियाँ, गुर्वावलियाँ, ऐतिहासिक रास, ऐतिहासिक गीत आदि मिलते हैं, जो इसके इतिहास के अध्ययन के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। अन्यान्य गच्छों की भाँति इस गच्छ की भी कई शाखाएँ अस्तित्व में आईं, जो इस प्रकार हैं--

१. मधुकरा शाखा-- आचार्य जिनवल्लभसूरि के समय वि.सं. ११६७/ई. सन् ११११ में यह शाखा अस्तित्व में आई।

२. रुद्रपल्लीयशाखा-- वि.सं. १२०४ में आचार्य जिनेश्वरसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आई। इस शाखा में अनेक विद्वान् आचार्य हुए। श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार वि.सं. की १७वीं शती तक इस शाखा का अस्तित्व रहा।

३. लघुखरतर शाखा--वि.सं. १३३१/ई. सन् १२७५ में आचार्य जिनसिंहसूरि से इस शाखा का उदय हुआ। अन्यान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थों के रचनाकार, सुल्तान मुहम्मद तुगलक के प्रतिबोधक शासनप्रभावक आचार्य जिनप्रभसूरि इसी शाखा के थे। वि.सं. की १८वीं शती तक इस शाखा का अस्तित्व रहा।

४. बेगड़ शाखा-- विसं. १४२२ में यह शाखा अस्तित्व में आई। जिनेश्वरसूरि इस शाखा के प्रथम आचार्य हुए।

५. पिप्पलक शाखा-- वि.सं. १४७४ में जिनवर्धनसूरि द्वारा इस शाखा का उदय हुआ। श्री नाहटा के अनुसार पिप्पलक नामक स्थान से संबद्ध होने से इसे पिप्पलक शाखा के नाम से जाना गया।

इसी नाम की एक शाखा वडगच्छीय शांतिसूरि के शिष्य महेन्द्रसूरि, विजयसिंसूरि आदि के द्वारा वि.सं. ११८१/ई. सन् ११२५ में अस्तित्व में आई।

६. आद्यपक्षीय शाखा-- वि.सं. १५६४ में आचार्य जिनदेवसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आई। इस शाखा की एक गद्दी पाली में थी।

७. भावहर्षीया शाखा--वि.सं. १६२१ में भावहर्षसूरि से इसका उदय हुआ। इस शाखा की एक गद्दी बालोतरा में है।

८. लघुआचार्य शाखा-- आचार्य जिनसागरसूरि से वि.सं. १६८६ में यह शाखा अस्तित्व में आई। इसकी गद्दी बीकानेर में विद्यमान है।

९. जिनरंगसूरि शाखा-- वि.सं. १७०० में जिनरंगसूरि से प्रारंभ हुई। इसकी गद्दी वर्तमान में लखनऊ में है।

१०. श्रीसारीयशाखा-- वि.सं. १७०० के लगभग यह शाखा अस्तित्व में आई, परंतु शीघ्र ही नामशेष हो गई।

११. मंडोवरा शाखा-- जिनमहेन्द्रसूरि, द्वारा वि.सं. १८९२ में मंडोवरा नामक स्थान से इसका उदय हुआ। इसकी एक गद्दी जयपुर में विद्यमान है।

श्रीअगरचंद नाहटा और श्री भँवरलाल नाहटा ने इस गच्छ के साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों का न केवल संकलन और प्रकाशन किया है, अपितु उनका सम्यक् अध्ययन भी समाज के सम्मुख रखा है।

चन्द्रगच्छ चन्द्रकुल ही आगे चलकर चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजगच्छ, वडगच्छ, खरत गच्छ, पूर्णतल्लगच्छ, भावडारगच्छ, पूर्णिमागच्छ आदि कई गच्छ चन्द्रकुल से ही अस्तित्व में आए। इस गच्छ से संबद्ध कई प्रतिमालेख मिलते हैं, जो वि.सं. १०७२ से वि.सं. १५५२ तक के हैं। मुनिपतिचरित्र (रचनाकाल वि.सं. १००५) एवं जिनशतक काव्य (रचनाकाल वि.सं. १०२५) के रचियता जम्बूकवि अपरनाम जम्बूनाग इसी गच्छ के थे। सनत्कुमारचरित के रचनाकार चन्द्रसूरि भी इसी गच्छ के थे। इसी गच्छ के शिवप्रभसूरि के शिष्य श्रीतिलकसूरि ने वि.सं. १२६१ में प्रत्येक बुद्धचरित की रचना की। वसन्तविलास के रचनाकार बालचन्द्रसूरि, प्रसिद्ध ग्रन्थसंशोधक प्रद्युम्नसूरि, शीलवतीकथा के रचनाकार उदयप्रभसूरि इसी गच्छ के थे।[२३] इस गच्छ के संबंध में विशेष विवरण अन्वेषणीय है।

चैत्रगच्छ मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों में चैत्रगच्छ भी एक हैं। चैत्रपुर नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा--चैत्रवालगच्छ, चित्रवालगच्छ, चित्रपल्लीयगच्छ, चित्रगच्छ आदि। धनेश्वरसूरि इस गच्छ के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनके पट्टधर भुवनचन्द्रसूरि हुए जिनके प्रशिष्य और देवभद्रसूरि के शिष्य जगच्चन्द्रसूरि से वि.सं.१२८५ ई. सन् १२२९ में तपागच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। देवभद्रसूरि के अन्य शिष्यों से चैत्रगच्छ की अविच्छिन्न परंपरा जारी रही। सम्यक्त्वकौमुदी (रचनाकाल वि.सं. १५०४/ई. सन् १४४८) और भक्तामरस्तवटीका के रचनाकार गुणाकरसूरि इसी गच्छ के थे।[२४]

चैत्रगच्छ से संबद्ध बड़ी संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जो वि.सं. १२६५ से वि.सं. १५९१ तक के हैं। इस गच्छ से कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ, जैसे--भर्तृपुरीय शाखा, धारणपद्रीयशाखा, चतुर्दशीयशाखा, चान्द्रसामीय शाखा, सलषणपुरा शाखा, कम्बाइयाशाखा, अष्टापदशाखा, शार्दूलशाखा आदि।

जाल्योधरगच्छ विद्याधरगच्छ की द्वितीय शाखा के रूप में इस गच्छ का उदय हुआ। यह शाखा कब और किस कारण अस्तित्व में आई ? इसके पुरातन आचार्य कौन थे ? साक्ष्यों के अभाव में ये प्रश्न अनुत्तरित हैं। इस गच्छ से संबद्ध मात्र दो प्रशस्तियाँ--नन्दिपददुर्गवृत्ति की दाताप्रशस्ति (प्रतिलेखनकाल -वि.सं. १२२६/ई. सन् ११६०) और **पद्मप्रभचरित** (रचनाकाल वि.सं. १२५४ ई. सन् ११९८) की प्रशस्ति ही मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्मप्रभचरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह गच्छ विद्याधरगच्छ की एक शाखा था।[२५]

इस गच्छ से संबद्ध कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं जो वि.सं. १२१३ से वि.सं. १४२३ तक के हैं।[२६] ग्रन्थ प्रशस्तियों और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों के गुरु परंपरा की एक तालिका बनती है, जो इस प्रकार है--

|

बालचन्द्रसूरि

|

गुणभद्रसूरि (वि.सं. १२२६ की नन्दीदुर्गपदवृत्ति में उल्लिखित)

|

सर्वाणंदसूरि (पार्श्वनाथचरित-अनुपलब्ध के रचनाकार)

|

धर्मघोषसूरि

|

देवसूरि (वि.सं. १२५४/ई. सन् ११९८ में पद्मप्रभचरित के रचनाकार)

|

हरिभद्रसूरि (वि.सं. १२९६/ई. सन् १२४० प्रतिमालेख-घोघा)

|

हरिप्रभसूरि | चन्द्रसूरि

चन्द्रसूरि → विबुधप्रभसूरि (वि.सं. १३९२ प्रतिमालेख)

हरिप्रभसूरि → ? → ललितप्रभसूरि (वि.सं. १४२३/ई. सन् १३६७ प्रतिमालेख)

जीरापल्लीगच्छ राजस्थान प्रांत के अर्बुदमंडल के अंतर्गत जीरावला नामक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ पार्श्वनाथ का एक महिम्न जिनालय विद्यमान है जो जीरावला पार्श्वनाथ के नाम से जाना जाता है। बृहद्गच्छ पट्टावली में उसकी एक शाखा के रूप में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। जीरावला नामक स्थान से संबद्ध होने के कारण यह शाखा जीरापल्लीगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस गच्छ से संबद्ध कई प्रतिमालेख मिलते हैं जो वि.सं. १४०६ से वि.सं. १५१५ तक के हैं।[२६] इसके संबंध में विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

तपागच्छ चैत्रगच्छीय भुवनचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और देवभद्रसूरि के शिष्य जगच्चन्द्रसूरि को आघाट में उग्र तप करने के कारण वि.सं. १२८५/ई. सन् १२२९ में 'तपा' विरुद् प्राप्त हुआ, इसी कारण उनकी शिष्य-संतति तपागच्छीय कहलाई।[२७] अपने जन्म से लेकर आज तक इस गच्छ की अविच्छिन्न परंपरा विद्यमान है और इसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। इस गच्छ में अनेक प्रभावक आचार्य और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं और आज भी हैं। इस गच्छ से संबद्ध बड़ी संख्या में साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं,जिनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। अन्य गच्छों की भाँति इस गच्छ की भी कई अवान्तर शाखाएँ अस्तित्व में आईं, जैसे--वृद्धपोषालिक, लघुपोषालिक, विजयाणंदसूरिशाखा, विमलशाखा, विजयदेवसूरिशाखा, सागरशाखा, रत्नशाखा, कमलकलशशाखा, कुतुबपुरा शाखा, निगम शाखा आदि।[२८]

थारापद्रगच्छ[२९] प्राक्मध्ययुगीन और मध्ययुगीन निर्ग्रन्थधर्म के श्वेताम्बर आम्नाय के गच्छों में इस गच्छ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। थारापद्र (वर्तमान थराद, बनासकाँठा मंडल उत्तर गुजरात) नामक स्थान से इस गच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। इस गच्छ में ११ वीं शती के प्रारंभ में हुए आचार्य पूर्णभद्रसूरि ने वटेश्वर क्षमाश्रमण को अपना पूर्वज बतलाया है। परंतु इस गच्छ के प्रवर्तक कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में वे मौन हैं। इस गच्छ में ज्येष्ठाचार्य, शांतिभद्रसूरि प्रथम, शीलभद्रसूरि प्रथम, सिद्धान्तमहोदधि सर्वदेवसूरि आदि अनेक प्रभावक और विद्वान आचार्य हुए हैं। षडावश्यकवृत्ति (रचनाकाल वि.सं. ११२२) और काव्यालंकारटिप्पण के कर्ता नमिसाधु इसी गच्छ के थे। इस गच्छ से संबद्ध अभिलेखीय साक्ष्य भी पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं, जो वि.सं. १०११ से वि.सं. १५३६ तक के हैं। इस प्रकार इस गच्छ का अस्तित्व प्रायः १६वीं शती के मध्य तक प्रमाणित होता है। चूँकि इसके पश्चात् इस गच्छ से संबद्ध साक्ष्यों का अभाव है। अतः यह माना जा सकता है कि उक्त काल के बाद इस गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो गया होगा।

देवानन्दगच्छ देवानन्दसूरि इस गच्छ के प्रवर्तक माने जाते हैं। श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार वि.सं. ११९४ और वि.सं. १२०१ की ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।[३०] श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई और श्री लालचंद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान गांधी ने प्रसिद्ध ग्रन्थ संशोधक और समरादित्यसंक्षेप के कर्ता प्रद्युम्नसूरि को देवानन्दगच्छ से संबद्ध बताया है जबकि हीरालाल रसिकलाल कापड़िया और श्री गुलाबचन्द्र चौधरी ने उन्हें चन्द्रगच्छीय बतलाया है। देवानन्दगच्छ चन्द्रगच्छ की ही एक शाखा रही या उससे भिन्न थी, इस संबंध में अध्ययन की आवश्यकता है। चम्पकसेनरास (रचनाकाल वि.सं. १६३०/ ई. सन् १५७४) के रचयिता महेश्वरसूरिशिष्य इसी गच्छ के थे। इस प्रकार वि.सं. की १२ वीं शती से १७वीं शती तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है[३१], फिर भी साक्ष्यों की विरलता के कारण इस गच्छ के बारे में विशेष विवरण दे पाना कठिन है।

धर्मघोषगच्छ[३२] राजगच्छीय आचार्य शीलभद्रसूरि के एक शिष्य धर्मघोषसूरि अपने समय के अत्यंत प्रभावक आचार्य थे। नरेशत्रय प्रतिबोधक और दिगम्बर विद्वान गुणचन्द्र के विजेता के रूप में इनकी ख्याति रही। इनकी प्रशंसा में लिखी गई अनेक कृतियाँ मिलती हैं, जो इनकी परंपरा में हुए उत्तरकालीन मुनिजनों द्वारा रची गई हैं। धर्मघोषसूरि की मृत्यु के उपरान्त इनकी शिष्यसंतति अपने गुरु के नाम पर धर्मघोषगच्छ के नाम से विख्यात हुई। इस गच्छ में यशोभद्रसूरि, रविप्रभसूरि, उदयप्रभसूरि, पृथ्वीचन्द्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, ज्ञानचन्द्रसूरि आदि कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए, जिन्होंने वि.सं. की १२वीं शती से वि.सं. की १७वीं शती के अंत तक अपनी साहित्योपासना, तीर्थोद्धार, नूतन जिनालयों के निर्माण की प्रेरणा, जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आदि द्वारा मध्ययुग में श्वेताम्बर श्रमणपरंपरा को चिरस्थायित्व प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इस गच्छ से संबद्ध लगभग २०० अभिलेख मिले हैं, जो वि.सं. १३०३ से वि.सं. १६९१ तक के हैं। ये लेख जिनमंदिरों के स्तम्भादि और तीर्थंकर प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं, जो धर्मघोषगच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिए अत्यंत उपयोगी है।

नागपुरीयतपागच्छ वडगच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि के एक शिष्य पद्मप्रभसूरि ने नागौर में वि.सं. ११७४ या ११७७ में उग्र तप का 'नागौरीतपा' विरुद् प्राप्त किया। उनकी शिष्य-संतति नागपुरीयतपागच्छ के नाम से विख्यात हुई।[३३] मुनिजिनविजय द्वारा संपादित विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह और श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई द्वारा लिखित 'जैनगुर्जरकविओ' भाग-२ में इस गच्छ की पट्टावली प्रकाशित हुई है। इसी गच्छ में १६वीं शती में पार्श्वचन्द्रसूरि हुए जिनके नाम पर पार्श्वचन्द्रगच्छ का उदय हुआ जो वर्तमान में भी अस्तित्ववान है। इन गच्छों का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित है।

नागेन्द्रगच्छ जिस प्रकार चन्द्रकुल बाद में चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार नागेन्द्रकुल भी नागेन्द्रगच्छ के नाम से विख्यात हुआ। पूर्वमध्ययुगीन और मध्ययुगीन गच्छों में इस गच्छ का विशिष्ट स्थान रहा। इस गच्छ में अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं। अणहिलपुरपाटन के संस्थापक वनराज चावड़ा के गुरु शीलगुणसूरि इसी गच्छ के थे। उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि की एक प्रतिमा पाटन में विद्यमान है। अकोटा से प्राप्त ई. सन् की सातवीं शताब्दी की दो जिन प्रतिमाओं पर नागेन्द्रकुल का उल्लेख मिलता है।[३४] महामात्य वस्तुपाल तेजपाल के गुरु विजयसेनसूरि इसी गच्छ के थे। इसी कारण उनके द्वारा बनवाए गए मंदिरों में मूर्तिप्रतिष्ठा उन्हीं के करकमलों से हुई। जिनहर्षगणि द्वारा रचित वस्तुपालचरित (रचनाकाल वि.सं. १४८७/ई. सन् १४४१) से ज्ञात होता है कि विजयसेनसूरि के उपदेश से ही वस्तुपाल तेजपाल ने संघयात्राएँ कीं और ग्रंथ-भण्डार स्थापित किए तथा जिनमंदिरों का निर्माण कराया। इनके शिष्य उदयप्रभसूरि ने धर्माभ्युदय महाकाव्य (रचनाकाल वि.सं. १२९०/ई. सन् १२३४) और उपदेशमालाटीका (रचनाकाल वि.सं. १२९९/ई. सन् १२४३) की रचना की। इनकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरुपरंपरा का सुन्दर विवरण दिया है जो इस गच्छ के इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वासुपूज्यचरित (रचनाकाल वि.सं. १२९९/ ई. सन् १२४३) के रचयिता वर्धमानसूरि और प्रबंधचिंतामणि के रचयिता मेरुतुंगसूरि भी इसी गच्छ के थे। इस गच्छ से संबद्ध प्रतिमालेख भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। वि.सं. १४५५ के एक धातुप्रतिमालेख के आधार पर श्री अगरचंद नाहटा ने यह मत व्यक्त किया है कि उस समय तक यह गच्छ उपकेशगच्छ में विलीन हो चुका था।[३५] इस गच्छ का भी सम्यक् अध्ययन होना अपरिहार्य है।

नाणकीयगच्छ[३६] श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में नाणकीय गच्छ का प्रमुख स्थान है। इसके कई नाम मिलते हैं, जैसे-- नाणगच्छ, ज्ञानकीयगच्छ, नाणावालगच्छ आदि। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है कि अर्बुदमंडल में स्थित नाणा नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्व में आया। शांतिसूरि इस गच्छ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिम आचार्य माने जाते हैं। उनके पट्टपर क्रम से सिद्धसेनसूरि, धनेश्वरसूरि और महेन्द्रसूरि ये तीन आचार्य प्रतिष्ठित हुए। यही चार नाम इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को पुनः-पुनः प्राप्त होते रहे। इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से वि.सं. १२७२ में बृहत्संग्रहणीपुस्तिका और वि.सं. १५९२ में षट्कर्मअवचूरि की प्रतिलिपि कराई गई। यह बात उनकी दाताप्रशस्ति से ज्ञात होती है। गच्छ से संबद्ध यही साहित्यिक साक्ष्य आज प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत इस गच्छ से संबद्ध बड़ी संख्या में जिन प्रतिमाएँ मिली हैं, जो वि.सं. ११०२ से वि.सं. १५९९ तक की हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के मुनिजन पठन-पाठन की ओर से प्रायः उदासीन रहते हुए जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा और चैत्यों की देखरेख में ही प्रवृत्त रहते थे। श्रावकों को नूतन जिनप्रतिमाओं के निर्माण की प्रेरणा देना ही इनका प्रमुख कार्य रहा। सुविहितमार्गीय मुनिजनों के बढ़ते हुए प्रभाव के बावजूद चैत्यवासी गच्छों का लंबे समय तक बने रहना समाज में उनकी प्रतिष्ठा और महत्त्व का परिचायक है।

निवृत्तिगच्छ निर्ग्रन्थ दर्शन के चैत्यवासी गच्छों में निवृत्तिकुल (बाद में निवृत्तिगच्छ) भी एक है। पर्युषणाकल्प की स्थविरावली में इस कुल का उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि यह कुल बाद में अस्तित्व में आया। इस कुल का सर्वप्रथम उल्लेख अकोटा से प्राप्त धातु की दो प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में प्राप्त होता है। उमाकांत पी. शाह ने इन लेखों की वाचना इस प्रकार दी है[३७]--

१. ॐ देवधर्मोयं निवृ(र्वृ)त्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य।
२. ॐ निवृ(र्वृ)त्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य।

शाह ने इन प्रतिमाओं का काल ई. सन् ५५० से ६०० के मध्य माना है। दलसुख भाई मालवणिया के अनुसार वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण समानार्थक शब्द हैं, अतः जिनभद्रवाचनाचार्य और प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं।

उपमितिभवप्रपंचाकथा (रचनाकाल वि.सं. ९६२/ई. सन् ९०६), सटीकन्यायावतार, उपदेशमालाटीका के रचनाकार सिद्धर्षि, चउपन्नमहापुरुषचरियं (रचनाकाल वि.सं. ९२५/ई. सन् ८६९) के रचनाकार शीलाचार्य अपरनाम विमलमति अपरनाम शीलाङ्क, प्रसिद्ध ग्रन्थसंशोधक द्रोणाचार्य सूराचार्य आदि भी इसी कुल से संबद्ध थे। यद्यपि इस कुल या गच्छ से संबद्ध अभिलेख वि.सं. की १६वीं शती तक के हैं, परंतु उनकी संख्या न्यून ही है।

इस गच्छ के आदिम आचार्य कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में उपलब्ध साक्ष्यों से कोई जानकारी नहीं मिलती। यद्यपि पट्टावलियों में नागेन्द्र, चन्द्र और विद्याधर कुलों के साथ इस कुल की उत्पत्ति का भी विवरण मिलता है, किन्तु उत्तरकालीन एवं भ्रामक विवरणों से युक्त होने के कारण ये पट्टावलियाँ किसी भी गच्छ के प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिए यथेष्ट प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती है। महावीर की परंपरा में निवृत्तिकुल का उल्लेख नहीं मिलता, अतः क्या यह पार्श्वापत्यों की परंपरा से लाटदेश में निष्पन्न हुआ, यह अन्वेषणीय है।

पल्लीवालगच्छ पल्ली (वर्तमान पाली, राजस्थान) नामक स्थान से पल्लीवाल ज्ञाति और श्वेताम्बरों ने पल्लीवालगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ से संबद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। कालिकाचार्यकथा (रचनाकाल वि.सं. १३६५) के रचनाकार महेश्वरसूरि, पिण्डविशुद्धिदीपिका (रचनाकाल वि.सं. १६२७), उत्तराध्ययन बालावबोधिनीटीका (रचनाकाल वि.सं. १६२९) और आचारांगदीपिका के रचयिता अजितदेवसूरि इसी गच्छ से संबद्ध थे। पल्लीवालगच्छ से संबद्ध जो प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं, वे वि.सं. १३८३ से वि.सं. १६८१ तक के हैं।[३८] इस गच्छ की एक पट्टावली भी प्राप्त हुई है, जिसके अनुसार यह गच्छ चन्द्रकुल से उत्पन्न हुआ है।

पूर्णतल्लगच्छ-चंद्रकुल से उत्पन्न गच्छों में पूर्णतल्लगच्छ भी एक है। इस गच्छ में जिनदत्तसूरि, यशोभद्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, गुणसेनसूरि, देवचन्द्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि, अशोकचन्द्रसूरि, चन्द्रसेनसूरि, रामचन्द्रसूरि, गुणचन्द्रसूरि, बालचन्द्रसूरि आदि कई आचार्य हुए।[३९] तिलकमंजरीटिप्पण, जैनतर्कवार्तिकवृत्ति आदि के रचनाकार शांतिसूरि इसी गच्छ के थे। देवचंद्रसूरि ने स्वरचित शांतिनाथचरित (रचनाकाल वि.सं. ११६०/ई. सन् ११०४) की प्रशस्ति में अपनी गुरु-परंपरा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है--

यशोभद्रसूरि
।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रद्युम्नसूरि
।
गुणसेनसूरि
।
देवचन्द्रसूरि (वि.स. ११६० / ई. सन् ११०४ में शांतिनाथचरित के रचनाकार)

इसके अतिरिक्त देवचन्द्रसूरि ने स्थानक प्रकरणटीका अपरनाम मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति की भी रचना की। चौलुक्यनरेश कुमारपालप्रतिबोधक, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि, उत्पादादिसिद्धिप्रकरण (रचनाकाल वि.सं. १२०५/ई सन् ११४९) के रचयिता चन्द्रसेनसूरि तथा अशोकचन्द्रसूरि उक्त देवचन्द्रसूरि के शिष्य थे। हेमचन्द्रसूरि की शिष्य परंपरा में प्रसिद्ध नाट्यकार रामचन्द्र गुणचन्द्र, अनेकार्थसंग्रह के टीकाकार महेन्द्रसूरि, स्नातस्या नामक प्रसिद्ध स्तुति के रचयिता बालचन्द्रसूरि, देवचन्द्रसूरि उदयचन्द्रसूरि, यशश्चन्द्रसूरि, वर्धमानगणि आदि हुए।

पिप्पलगच्छ वडगच्छीय आचार्य सर्वदेवसूरि के प्रशिष्य और नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य आचार्य शांतिसूरि ने वि.सं. ११८१/ई. सन् ११२५ में पीपलवृक्ष के नीचे महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि आठ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किया। पीपलवृक्ष के नीचे उन्हें आचार्य पद प्राप्त होने के कारण उनकी शिष्यसंतति सागरचन्द्रसूरि, वस्तुपालतेजपालरास (रचनाकाल वि.सं. १४८४/ई. सन् १४२८), विद्याविलासपवाडो आदि के कर्त्ता प्रसिद्ध ग्रन्थकार हीरानन्दसूरि, कालकसूरिभास के कर्ता आनन्दमेरु इसी गच्छ के थे। इस गच्छ की दो अवान्तर शाखाओं का पता चलता है--

१. त्रिभवीयाशाखा २. तालध्वजीयाशाखा

अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर वि.सं. १७७८ तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है।

पूर्णिमागच्छ या **पूर्णिमापक्ष** मध्ययुगीन श्वेताम्बर-गच्छों में पूर्णिमागच्छ का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। चन्द्रकुल के आचार्य जयसिंह सूरि के शिष्य चन्द्रप्रभसूरि द्वारा पूर्णिमा को पाक्षिक पर्व मनाए जाने का समर्थन करने के कारण उनकी शिष्यसंतति पूर्णिमापक्षीय या पूर्णिमागच्छीय कहलाई। वि.सं. ११४९ या ११५९ में इस गच्छ का आविर्भाव माना जाता है।[४१] इस गच्छ में आचार्य धर्मघोषसूरि, देवसूरि, चक्रेश्वरसूरि, समुद्रघोषसूरि, विमलगणि, देवभद्रसूरि, तिलकाचार्य, मुनिरत्नसूरि, कमलप्रभसूरि, महिमाप्रभसूरि आदि कई प्रखर विद्वान् आचार्य हो चुके हैं। इस गच्छ की कई आवन्तर शाखाएँ अस्तित्व में आईं, जैसे--प्रधानशाखा या ढंढेरियारशाखा, सार्धपूर्णिमाशाखा, कच्छोलीवालशाखा, भीमपल्लीयशाखा, वटपद्रीयशाखा, बोरसिद्धीयशाखा, भृगुकच्छीयशाखा, छापरियाशाखा आदि। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियों, उनकी प्रेरणा से लिपिबद्ध कराए गए प्राचीन ग्रन्थों की दाताप्रशस्तियों एवं पट्टावलियों में इस गच्छ के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। यही बात इस गच्छ से संबद्ध बड़ी संख्या में प्राप्त प्रतिमालेखों के संबंध में भी कही जा सकती है।

ब्रह्माणगच्छ अर्बुदमंडल के अंतर्गत वर्तमान वरमाण (प्राचीन ब्राह्मण) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है।[४२] इस गच्छ से संबद्ध बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं, जो वि.सं. ११२४ से १६वीं शती के अंत तक के हैं। इन लेखों में विमलसूरि, बुद्धिसागरसूरि, उदयप्रभुसूरि, मुनिचन्द्रसूरि आदि आचार्यों के नाम पुनः आते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के मुनिजन चैत्यवासी रहे होंगे। इस गच्छ से संबद्ध साहित्यिक साक्ष्यों का प्रायः अभाव है, अतः इसके बारे में विशेष बातें ज्ञात नहीं होती हैं।

वडगच्छ सुविहितमार्ग प्रतिपालक और चैत्यवास-विरोधी गच्छों में वडगच्छ का प्रमुख स्थान है। परंपरानुसार चन्द्रकुल के आचार्य उद्योतनसूरि ने वि.सं. ९९४ में आबू के निकट स्थित टेलीग्राम में वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि सहित ८ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किया। वटवृक्ष के नीचे उन्हें प्राप्त होने के कारण उनकी शिष्यसन्तति वडगच्छीय कहलाई। वटवृक्ष के समान इस गच्छ की भी अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ अस्तित्व में आईं, अतः इसका एक नाम बृहद्गच्छ भी पड़ गया।[४३] गुर्जरभूमि में विधिमार्ग-प्रवर्तक वर्धमानसूरि, उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागर-सूरि, नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेवसूरि, आख्यानकमणिकोश के रचयिता देवेन्द्रगणि अपरनाम नेमिचन्द्रसूरि, उनके शिष्य आम्रदेवसूरि, प्रसिद्ध ग्रन्थकार मुनिचन्द्रसूरि, उनके पट्टधर प्रसिद्ध वादी देवसूरि, रत्नप्रभसूरि, हरिभंद्रसूरि आदि अनेक प्रभावक और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं। इस गच्छ की कई अवान्तर शाखाएँ अस्तित्व में आईं, जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि.सं. ११४९ या ११५९ में यशोभद्र-नेमिचन्द्र के शिष्य और मुनिचन्द्रसूरि के ज्येष्ठ गुरुभ्राता चन्द्रप्रभसूरि से पूर्णिमागच्छ का उदय हुआ। इसी प्रकार वडगच्छीय शांतिसूरि द्वारा वि.सं. ११८१/ ई. सन् ११२५ में पीपलवृक्ष के नीचे महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि ८ शिष्यों के आचार्यपद प्रदान करने के कारण उनकी शिष्यसंतति पिप्पलगच्छीय कहलाई। अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा वि.सं. की १७ वीं शती के अंत तक वडगच्छ का अस्तित्व ज्ञात होता है।

मलधारिगच्छ या हर्षपुरीयगच्छ हर्षपुर (वर्तमान हरसौर) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। जिनप्रभसूरि-विरचित कल्पप्रदीप (रचनाकाल वि.सं. १३८९/ई. सन् १३३३) के अनुसार एक बार चौलुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज ने हर्षपुरीयगच्छ के आचार्य अभयदेवसूरि के मलमलिन वस्त्र एवं उनकी मलयुक्तदेह को देखकर उन्हें मलधारि नामक उपाधि से अलंकृत किया। उसी समय से हर्षपुरीयगच्छ मलधारिगच्छ के नाम से विख्यात हुआ।[४४] इस गच्छ में अनेक ग्रंथों के प्रणेता हेमचन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, लक्ष्मणगणि, विबुधप्रभसूरि, जिनभद्रसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, देवप्रभसूरि, नरचन्द्रसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, राजशेखरसूरि, सुधाकलश आदि प्रसिद्ध आचार्य और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा बड़ी संख्या में रची गई कृतियों की प्रशस्तियों एवं गच्छ से संबद्ध वि.सं. ११९० से वि.सं. १६९९ तक के प्रतिमालेखों में इतिहास-संबंधी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है।

मोडगच्छ गुजरात राज्य के मेहसाणा जिले में अवस्थित मोढेरा (प्राचीन मोढेर) नामक स्थान से मोढज्ञाति एवं मोढगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। ई. सन् की १०वीं शताब्दी की धातु की दो प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में इस गच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे प्रमाणित होता है कि उक्त तिथि के पूर्व यह गच्छ अस्तित्व में आ चुका था।[४५] प्रभावकचरित से भी उक्त मत की पुष्टि होती है। ई. सन् ११७१/वि.सं. १२२७ के एक लेख में भी इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। श्री पूरनचंद नाहर ने इसकी वाचना इस प्रकार दी है--

सं. १२२७ वैशाख सुदि ३ गुरौ नंदाणि ग्रामेन्या श्रावकिया आत्मीयपुत्र लूणदे श्रेयोर्थ चतुर्विंशतिपट्टाः कारिताः श्रीमोढगच्छे बप्पभट्टिसंताने जिनभद्राचार्यैः प्रतिष्ठितः। जैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखांक १६९४

वि.सं. १३२५ में प्रतिलिपि की गई कालकाचार्यकथा की दाताप्रशस्ति में मोढगुरु हरिप्रभसूरि का उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि इस गच्छ से संबद्ध साक्ष्य सीमित संख्या में प्राप्त होते हैं, फिर भी उनके आधार पर इस गच्छ का लम्बे काल तक अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रो. एम.ए. ढाकी का मत है कि जैन धर्मानुयायी मोढ़ ज्ञाति द्वारा स्थानकवासी (अमूर्तिपूजक) जैन धर्म अथवा वैष्णवधर्म स्वीकार कर लेने से इस श्वेताम्बरमूर्ति पूजकपरंपरा में गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो गया।

राजगच्छ चन्द्रकुल से समय-समय पर अनेक गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ, राजगच्छ भी उनमें एक है। वि.सं. की ११ वीं शती के आसपास इस गच्छ का प्रादुर्भाव माना जाता है। चन्द्रकुल के आचार्य प्रद्युम्नसूरि के प्रशिष्य और अभयदेवसूरि के शिष्य धनेश्वरसूरि प्रथम दीक्षा लेने के पूर्व राजा थे, अतः उनकी शिष्य-संतति राजगच्छ के नाम से विख्यात हुई।[४६] इस गच्छ में धनेश्वरसूरि द्वितीय, अनेक कृतियों के कर्ता पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्रीचन्द्रसूरि, सिद्धसेनसूरि, देवभद्रसूरि, माणिक्यचन्द्रसूरि, प्रभाचन्द्रसूरि आदि कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए हैं। इसी गच्छ के वादीन्द्र धर्मघोषसूरि की शिष्यसंतति अपने गुरु के नाम पर धर्मघोषगच्छीय कहलाई।

यद्यपि राजगच्छ से संबद्ध अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं, जो वि.सं. ११२८ से वि.सं. १५०९ तक के हैं, तथापि उनकी संख्या न्यून है। साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा इस गच्छ का अस्तित्व वि.सं. की १४ वीं शती तक ही ज्ञात हो पाता है, किन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा वि.सं. की १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ तक इस गच्छ का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

रुद्रपल्लीयगच्छ यह खरतर गच्छ की एक शाखा है जो वि.सं. १२०४ में जिनेश्वरसूरि से अस्तित्व में आई। रुद्रपल्ली नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति हुई। इस गच्छ में देवसुन्दरसूरि, सोमसुन्दरसूरि, गुणसमुद्रसूरि, हर्षदेवसूरि, हर्षसुन्दरसूरि आदि कई आचार्य हुए हैं। वि.सं. की १७ वीं शताब्दी तक इस गच्छ की विद्यमानता का पता चलता है।[४७]

वायडगच्छ गुजरात राज्य के पालनपुर जिले में अवस्थित डीसा नामक स्थान के निकट वायड नामक ग्राम है, जहाँ से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठी-सातवीं शती में वायडज्ञाति और वायडगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ में पट्टधर आचार्यों को जिनदत्त, राशिल्ल और जीवदेव ये तीन नाम पुनः पुनः प्राप्त होते थे, जिससे पता चलता है कि इस गच्छ के अनुयायी चैत्यवासी रहे। बालभारत और काव्यकल्पलता के रचनाकार अमरचन्द्रसूरि, विवेकविलास व शकुनशास्त्र के प्रणेता जिनदत्तसूरि वायडगच्छ के ही थे। सुकृतसंकीर्तन का रचनाकार ठक्कुर अरिसिंह इसी गच्छ का अनुयायी एक श्रावक था।[४८]

विद्याधरगच्छ नागेन्द्र, निर्वृत्ति और चन्द्रकुल की भाँति विद्याधरकुल भी बाद में विद्याधरगच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ से संबद्ध कुछ प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं। जालिहरगच्छीय देवप्रभसूरि द्वारा रचित पद्मप्रभचरित (रचनाकाल वि.सं. १२५४/ ई. सन् ११९८) की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि काशहृद और जालिहर ये दोनों विद्याधर गच्छ की शाखाएँ हैं।[४९] विद्याधरगच्छ के संबंध में विशेष विवरण अन्वेषणीय हैं।

संडेरगच्छ मध्ययुगीन श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में संडेरगच्छ का भी प्रमुख स्थान है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है संडेर (वर्तमान सांडेराव, राजस्थान) नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्व में आया। ईश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। शालिसूरि, सुमतिसूरि, शांतिसूरि और ईश्वरसुरि ये चार नाम पुनः इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को प्राप्त होते रहे। संडेरगच्छीय मुनिजनों द्वारा लिखित ग्रन्थों की अन्त्य प्रशस्तियों एवं उनकी प्रेरणा से लिखाए गए ग्रन्थों की दाता प्रशस्तियों में इस गच्छ के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। यही बात इस गच्छ से संबद्ध प्रतिमालेखों--जो वि.सं. १०३९ में वि.सं. १७३२ तक के हैं, के बारे में भी कही जा सकती है।[५०] **सागरदत्तरास** (रचनाकाल वि.सं. १५५०), ललितांगचरित, श्रीपालचौपाइ, सुमित्रचरित्र आदि के रचनाकार ईश्वरसूरि इसी गच्छ के थे। प्राचीन ग्रन्थों के प्रतिलेखन की पुष्पिकाओं के आधार पर ई. सन् की १८वीं शती तक इस गच्छ का अस्तित्व ज्ञात होता है।

सरवालगच्छ पूर्वमध्ययुगीन श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में सरवालगच्छ भी एक है। चन्द्रकुल की एक शाखा के रूप में इस गच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है। इस गच्छ से संबद्ध वि.सं. १११० से वि.सं. १२८३ तक के कुछ प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं। पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति (रचनाकाल वि.सं. ११६०/ई. सन् ११०४) के रचयिता वीरगणि अपरनाम समुद्रघोषसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ के प्रवर्तक कौन थे ? यह गच्छ कब अस्तित्व में आया ? इस बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।[५१] सरवाल जैनों की कोई ज्ञाति थी, अथवा किसी स्थान का नाम था, जहाँ से यह गच्छ अस्तित्व में आया, यह अन्वेषणीय है।

सन्दर्भ

१. भगवतीसूत्र १५/१/५३९-६१.

२. वही ९/३३/३८६-७.

३. कल्पसूत्रस्थविरावली २०५-२२३.

४. नन्दीसूत्रस्थविरावली २५-४८.

५. विशेषावश्यकभाष्य ३०५३ और आगे, आवश्यकभाष्य १४५ और आगे, आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पृ. ४२७, ५८६.

६. कल्पसूत्रस्थविरावली २१६-२२१.

७. वही

८. सम्बोधप्रकरण

९. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, संपा. जिनविजय (सिंघी जैन ग्रंथमाला, ग्रथांक ४२, बंबई १९५६), पृ. २-३.

१०. द्रष्टव्य संदर्भ संख्या १२.

११. श्रीपार्श्व--अंचलगच्छदिग्दर्शन (बंबई, १९८० ई.), पृ.१०.

१२. अगरचंद नाहटा-- जैन श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश, यतीन्द्रसूरिअभिनंदनग्रंथ (आहोर, १९५८ ई), पृ. १४१.

१३. शिवप्रसाद--आगमिकगच्छ अपरनाम (प्राचीन) त्रिस्तुतिकगच्छ का इतिहास, पं. दलसुखभाई मालवणिया अभिनंदनग्रंथ, वाराणसी १९९१ ई. स. पृष्ठ २४१-२८४.

१४. शिवप्रसाद--उपकेशगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, श्रमण.वर्ष ४२, अंक ७-१२, पृ. ९१-१८२.

१५. वही, पृ. १८१-१८२.

१६. C.D. Dalal--A Deccriptive Catalogue of Manuscripts in the jain Bhandars at Pattan, Gaekwad's Oriental Series No. LXXVI, Baroda, 1937, A.D., pp 215-6.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. H.D. Velankar--jinaratnakosa, Bhandarkar oriental Research institute, government Oriental Series, Class C No. 4 Poona, 1994, A.D., pp. 349-350.

१८. शिवप्रसाद कृष्णर्षिगच्छ का इतिहास, निर्ग्रन्थ जिल्द १, अहमदाबाद १९९५, हिन्दी खण्ड, पृष्ठ २४-३५. १९. शिवप्रसाद--कोरंटगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, श्रमण, वर्ष ४०, अंक ५, पृ. १५-४३.

२०. शिवप्रसाद--भावडारगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, श्रमण, वर्ष ४०, अंक ३, पृ. १५-३३.

२१. नाहटा, पूर्वाक्त, पृ. १४५-१४६.

२२. मुनि जिनविजय--संपा. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४२, बंबई १९५६ ई., भूमिका, पृ. ६-१२.

२३. भोगीलाल सांडेसरा-महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, जैन-संस्कृति-संशोधन मंडल, सन्मति प्रकाशन नं. १५, वाराणसी, १९५९ ई., पृ.च १०६-१०९.

२४. वेलणकर, पूर्वोक्त, पृ. २८८ और ४२३-४२४.

२५. द्रष्टव्य सन्दर्भ संख्या १६.

२६. शिवप्रसाद--जालिहरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, श्रमण, वर्ष ४३, अंक ४-६, पृ. ४१-४६.

२६. शिवप्रसाद--जीरापल्लीगच्छ का इतिहास, श्रमण, वर्ष ४७, अंक ९, पृ. २३-३३.

२७. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. १४८.

२८. वही, पृ. १४८-१४९

एवं

मुनिकान्तिसागर--शत्रुंजयवैभव, कुशल संस्थान, पुष्प ४, जयपुर १९९० ई., पृ. ३६९-२७०.

२९. शिवप्रसाद--थारापद्रगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, निर्ग्रन्थ, वर्ष १, अंक १, अहमदाबाद १९९४ ई.

३०. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. १४८-१४९.

मोहनलाल दलीचंद देसाई--जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बंबई, १९३३ ई., पृ. ३८४.

पं. लालचंद भगवानदास गांधी--ऐतिहासिक लेख संग्रह, बडोदरा, १९६३ ई., पृ. १६२.

हीरालाल रसिकलाल कापड़िया--जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास भाग २, बड़ोदरा, १९६८ ई., पृ. १३२.

गुलाबचंद्र चौधरी--जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, वाराणसी १९७३ ई., पृ. २७०-७१.

३१. नाहटा, पूर्वोक्त पृ. १५०.

३२. शिवप्रसाद--धर्मघोषगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, श्रमण, वर्ष ४१, अंक १-३, पृ. ४५-१०३.

३३. नाहटा, पूर्वोक्त,पृ. १५१.

३४. U.P. Shah--Akota Bronzes, (Bombay 1959) PP. 34-35 सांडेसरा, पूर्वोक्त, पृ. ९६-१००.

३५. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. १५१.

३६. शिवप्रसाद, नाणकीयगच्छ, श्रमण, वर्ष ४०, अंक ७, पृ. २-३४.

३७. शाह, पूर्वोक्त, पृ. २९, ३३-३४.

इस गच्छ के संबंध में विचार के लिए द्रष्टव्य--शिवप्रसाद, निवृत्तिकुल का संक्षिप्त इतिहास,

निर्ग्रन्थ वर्ष २, अहमदाबाद १९९६ ई., हिन्दी खंड, पृष्ठ ३४-३९.

३८. अगरचंद नाहटा--पल्लीवालगच्छपट्टावली, श्री आत्मारामजी शताब्दी ग्रन्थ, पृ. १८२-१९६.

३९. भोगीलाल सांडेसरा--हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मंडल, जैन-संस्कृति-संशोधन-मंडल, पत्रिका नं. ३१, वाराणसी १९५१ ई., पृ. ३-२०.

४०. शिवप्रसाद, पिप्पलगच्छ का इतिहास, श्रमण, वर्ष ४७, अंक १०-१२, वर्ष ४८, अंक १-३, पृष्ठ ८३-११७.

४१. शिवप्रसाद, पूर्णिमागच्छ का इतिहास, श्रमण, वर्ष ४२, और ४३ के विभिन्न अंक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. शिवप्रसाद .ब्राह्मण गच्छ का इतिहास, श्रमण, वर्ष ४८, अंक ७-९, पृष्ठ १४-५०.

४३. शिवप्रसाद--बृहद्गच्छ का संक्षिप्त इतिहास, पं. दलसुख भाई मालवणिया अभिनंदनग्रंथ, पृ. १०५-११७.

४४. मुनिजिनविजय, संपा. कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प सिंघी जैन ग्रंथमाला, ग्रथांक १०, शांति निकेतन-१९३४ ई., पृ. ५१.

४४. शिवप्रसाद, हर्षपुरीयगच्छ अपरनाम मलधारीगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, श्रमण, वर्ष ४७, अंक ४६, पृष्ठ ३६-६७.

४५. M.A. Dhaky--``Modhera, Modha-Vansa, Modha Gaccha and Modha-Caityas, journal of the Asiatic Socity of Bombay, Volumes 56-59/1981-84 (Combined) (New Series), Bombay-1986, A.D., pp. 144-159.

४६. शिवप्रसाद, राजगच्छ का इतिहास, संस्कृतिसंधान, वर्ष ५, वाराणसी १९९२, पृष्ठ ३३-४८.

४७. शिवप्रसाद, वायडगच्छ का इतिहास, निर्ग्रन्थ, जिल्द २, हिन्दी खण्ड, पृष्ठ ४०-४८.

४८. शिवप्रसाद, विद्याधर कुल और विद्याधर गच्छ, संस्कृति-संधान, वर्ष ८, वाराणसी १९९५ ई. पृ. ११-१७

४९. द्रष्टव्य--संदर्भसंख्या १६.

५०. शिवप्रसाद--संडेरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास, पं. दलसुख भाई मालवणिया अभिनंदनग्रन्थ, पृ. १९४-२१७.

५१. शिवप्रसाद--सरवालगच्छ का संक्षिप्त इतिहास संस्कृति-संधान, वर्ष ४, वाराणसी, १९९२ ई., पृ. ५१-५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org